ॐ

संध्या.

लेखक,

देवराज, विद्यावाचस्पति.

प्रकाशकः—

मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल-विद्यालय,

सोनगढ (काठियावाड).

प्रथमावृत्ति २००० सम्वत् १९९० मूल्य ।).

मुद्रकः-शेठ देवचंद दामजी.
आनंद प्रेस,
भावनगर.

"प्रातः सन्ध्यामुपासीत सन्ध्यांसायं तथैव च ।"
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥

पुस्तक के विषयमें:—

(१) श्री महात्मा नारायणस्वामीजी महाराज.

इसमें कई बातें ऐसी हैं जो इस रूप में अब तक अन्यत्र नहीं पाई जातीं। मनसा परिक्रमा की व्याख्या बिलकुल नई और अच्छी है। मुझे आपकी इस व्याख्या से बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं चाहता हूं कि बहु संख्या में नरनारी इस आपकी सन्ध्या को पढ़ें और उस से लाभ उठावें ॥

(२) श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी (सम्पादक-वैदिक धर्म).

इस पुस्तकमें मन्त्रों की जो आध्यात्मिक दृष्टिसे सङ्गति लगाई है वह विशेषता केवल इस पुस्तक की है और वह प्रशन्सा योग्य है। मुझे विश्वास है कि यह सन्ध्या आर्य्यों को आध्यात्मिक उन्नति पथ दिखाने में समर्थ होगी ॥

(२) श्री पं० मेधाव्रतजी-आचार्य आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा.

इस सन्ध्या व्याख्याको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अपने ढङ्ग की निराली होती हुई भी यह व्यख्या वेद मन्त्रों की यथार्थ हृदय ग्राही शैली से सुसङ्गत है। यह व्याख्या साधक जनों के लिए अति उपयोगिनी है। मैं इस व्याख्या के लिए लेखक को बधाई देता हूं ॥

शुद्धाशुद्ध पत्र.

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१	१२	ऽऽर्क	ऽर्क
२	६	शंरीर	शरीर
३	१३	जोइसे	जो इसे
११	१९	श्री	श्री'
१२	११	रूक	रुक
१२	१२	इन्द्रिय	इन्द्रिय
१२	१५	शक्तिमन्द	शक्ति मन्द
१४	१६	बा	वां
१७	२०	शूदो	शूद्रो
१८	१५	अकर्मं	अकर्म
२४	७	ओर	और
२४	७	और	ओर
२४	२२	तत्वज्ञनियों	तत्वज्ञानियों
२५	२१	नही	नहीं
२६	१	है ।	है
२९	२१	नवरं	नंबर
३०	१३	कही	कहीं
३१	२०	मंन्त्रार्थ	मन्त्रार्थ
३७	१०	बुज्रग	बुजुर्ग
४३	७	प्राप्त	प्राप्ति



आचार्य देवराजजी विद्यावाचस्पति

सन्ध्या.

भूमिका

सन्ध्या के नाम से प्रत्येक हिन्दू परिचित है। रात्रि और दिनकी अथवा प्रकाश और अन्धकार की दो भारी सन्धि मनुष्य को अपने जीवन में अनुभव में आती हैं। इन दोनों सन्धिओं का नाम सन्ध्या है। काल के अन्दर अन्य कितनी भी सन्धिआं क्यों न हों परन्तु सन्ध्या तो इन दोही कालका नाम है। अन्य सन्धिआं केवल सन्धियां हैं, परन्तु रात और दिनकी सन्धियां सन्ध्या हैं। मनु महाराज ने इन दोनों सन्धिओं का नाम सन्ध्याही रखा है।

पूर्वां सन्ध्यां जपँस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽऽर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ मनुः ॥

अर्थ—पूर्व सन्ध्या अर्थात् प्रातःकाल की सन्ध्या में

---

१ सन्धिः=सम्+धा+उपसर्गे घोः किः। सन्धानम् सन्धिः।

२ सन्ध्या=सम्+ध्या। सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्मिन् काले स कालः सन्ध्या।

सूर्य देखने तक सावित्री मंत्र (तत्सवितुर्वरेण्यं०) का जप करता रहे और पश्चिम सन्ध्या अर्थात् सायंकाल की सन्ध्या में अच्छी प्रकार तारे निकलने तक सावित्री मन्त्र का जप करता रहे।

प्रात:काल रात्रि[१] के तीसरे प्रहर में उठ कर शौच, दन्तधावन, स्नान, आसन आदि शरीरस्वास्थ्योपयोगी नित्य कर्म करके मनुष्य संध्याकालीन उपासना कर्म के लिए तैयार होता है। उपासनामें मनुष्य अपने आपको अर्थात् आत्मा को परमात्मा में रख देता है। परमात्मा में आत्मा को रख चुकने के अनन्तर मनुष्यों की बुद्धियां ठीक रस्ते पर चल जाती हैं। उनके अन्दर, ठीक रस्ते पर चलने केलिए, ज्ञान की स्फुरणा स्वयं होने लगती है। ऐसी निर्बाध गति मिलने-पर अपनी कल्याणकारिणी सुखदायिनी सावित्री माताको मनुष्य नमस्कार करता है और सन्ध्या को समाप्त करता है।

उपासना के पहिले मनुष्य अपने पूर्ण यत्नसे अपनी बलवती इच्छाशक्ति के साथ अपने विघ्नों को अपनी बाधाओंको उन सब को जिनको वह अपनी सावित्री माता से मिलने में रुकावट समझता है—माता की विघ्न निवारिणी शक्ति के अर्पण कर देता है। बाधाएँ उपासक को बिलकुल अप्रिय लगती हैं। उनसे वह मुख मोड़ लेता है। प्रकाश और

---

३ उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ॥ मनुः ॥

ऐश्वर्य, उत्पत्ति और प्रेम, सम्मान और वृद्धि, स्थिरता और संगठन, ज्ञान और निदर्शन इनकी तरफ़ अपना मुख फेरता है। मन के द्वारा चिंतन करता हुआ सब दिशाओं (Directions) में अपनी प्रगति पूर्ण बलवती इच्छा-शक्ति (आत्म शक्ति) से करता हुआ उपासना के योग्य होता है। ऐसा प्रयत्न करना प्रार्थना कहलाता है। यह प्रयत्न वा ऐसी प्रार्थना मनसापरिक्रमा मन्त्रों से की जाती है।

मनुष्य जिन महान् गुणों के लिए मनसा परिक्रमा मन्त्रों से प्रार्थना करता है उन गुणों के लिए वह प्रयत्न करने में तब समर्थ हो सकता है जब उस वशी की स्तुति कर लेता है जिसने इस सब ब्रह्मांड को उत्पन्न किया है और जोइसे वश में रखता है। गुणों के चिन्तन से गुणी के प्रति झुकाव होता है और फिर गुणों के लिए प्रयत्न होता है। गुणों के ग्रहण के प्रति प्रयत्न बढ़ाते २ मनुष्य गुणी के सदृश होने लगता है। गुणों के चिन्तन से मनुष्य में निरभिमानता आती है। अहङ्कार दूर होता है। अहङ्कार को दूर करने का सब से अच्छा उपाय वशी के उस नियम का चिन्तन है जिसने सम्पूर्ण विश्व को वश में कर रखा है। अहङ्कारी मनुष्य जब चिन्तन द्वारा समझ लेता है कि वह वश कर्ता के नियम के आधीन है और उस के नियम का भङ्ग नहीं कर सकता तब उस का अहङ्कार टूट

आता है। अहङ्कार टूट जाने से स्वेच्छाचारिता के आधार पर उठनेवाली पापमय वृत्तियां मनुष्य के अन्तःकरण से दूर होने लगती हैं। इस प्रकार वशी के गुणों के चिन्तन से अघ अर्थात् पाप का मर्षण होता है किसी ऋषिने इसी प्रकार अघ का मर्षण किया होगा तब से अघमर्षण सूक्त का नाम ही अघमर्षण पड़ गया और जिस ऋषि का उस सूक्त से अघमर्षण हुआ उस ऋषि का नाम भी अघमर्षण हुआ। सन्ध्या कार्य में अघमर्षण सूक्त का मनन वशी के गुणों का चिन्तन सन्ध्या के अन्तर्गत स्तुति कर्म को पूरा करता है। इस प्रकार मनुष्य सन्ध्याकाल में स्तुति से प्रार्थना का और प्रार्थना से उपासना का अधिकारी होता है।

स्तुति करना भी आसान नहीं है। स्तुति के लिए भी मनुष्य की सहसा प्रवृत्ति नहीं होती। उस के लिए भी तय्यारी करनी पड़ती है। अपनी बड़ाई के पीछे मरता हुआ मनुष्य किसी दूसरे की स्तुति न करना चाहता है और न सुनना चाहता है। मनुष्य का अशान्त और चञ्चल मन उस के आत्मा में परमात्मा के प्रकाश को चमकने नहीं देता। जैसे चञ्चल जल में किनारे के वृक्षों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं उतरता वैसे ही मन की चञ्चलता के कारण अशान्त आत्मा में समीपस्थ परमात्मा का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं उतरता। मनुष्य परमात्मा की स्तुति करने केलिए अथवा उस की

महिमा का चिन्तन करसकने के लिए पहिले अपने मन को शान्त करता है ।

मन की अशान्ति का बहुत सम्बन्ध उस के प्राणों से है । प्राणों (श्वास प्रश्वास) में चञ्चलता, उथलापन वा लघुता वा शीघ्रता होने से और गम्भीर दीर्घ प्राण न होने से मन चञ्चल रहता है । मन चञ्चल होने से श्वास प्रश्वास लघु हो जाते हैं गम्भीर नहीं रहते परमात्मा की स्तुति के योग्य होने के लिए मन को शान्त करना है, अतः श्वास प्रश्वास की गति को मन्द कर के उस के बल से मन को शान्त करना होता है । यह अभ्यास प्राणायाम की प्रक्रिया से सम्पन्न होता है । इसलिए अघमर्षण के पहिले परमात्मा के नामों का मनसे ध्यान करते हुए और नामों से बताई गई परमात्मा की शक्तियों का शरीर के भिन्न २ स्थानों में प्राण के उतराव चढ़ाव के साथ २ ध्यान करते हुए प्राणों को बलवान् किया जाता है । प्राणों में बल आजाने से मन स्थिर होता है और अघमर्षण के योग्य हो जाता है ।

शरीर में भिन्न २ स्थानों में प्राणों की क्रिया को बलवान् करने के लिए उन २ स्थानों में मन के द्वारा स्थानिक शक्तियों का चिन्तन किया जाता है । स्थानिक शक्तियों के चिन्तन से उन २ स्थानों का मार्जन होता है । वह २ स्थान अपनी २ शक्तियों से जब यथेष्ट काम लेने में समर्थ हो जाता है तब उस की शुद्धि समझी जाती है । उस स्थान में काम करने वाली प्राण शक्ति जब अप्रतिहत

(Undisturbed) होती है अर्थात् उस के प्रतिघात के लिए वा विचलन के लिए उस स्थान में जब किसी अन्य का प्रवेश नहीं होता और नहीं रहता तब वह स्थान शुद्ध वा परिमार्जित समझा जाता है। इस प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों का मार्जन हो चुकने के अनन्तर ही प्राणों के बल के आधार पर मन स्थिर कर के अघमर्षण किया जा-सकता है, इसलिए प्राणायाम के पहिले अङ्गों में शक्तियों के चिन्तन से उन का मार्जन करना अत्यावश्यक है।

अङ्गों का मार्जन अङ्गों में विद्यमान शक्तियों के प्रोत्साहन से होता है। शक्तियों के प्रोत्साहन के लिए शक्तियों का सञ्चय करना आवश्यक है। जिस २ इन्द्रिय में जो २ शक्ति है उस २ इन्द्रिय में उस २ शक्ति को जागृत करने केलिए एक २ इन्द्रिय में मन को घुमाते जाते हैं और इन्द्रियों की शक्तियों को जागृत करते जाते हैं। इन्द्रियों का दुरुपयोग करनेसे उनकी शक्ति मन्द पड़ जाती है और नष्ट हो जाती है। शक्तियों को जागृत करने और उनके प्रोत्साहन के लिये शक्तियों के सदुपयोग का चिन्तन किया जाता है। साधक एक २ इन्द्रिय के सम्बन्ध में सदुपयोग का चिन्तन करता जाता है। शक्तियों के सदुपयोग के आधार पर ही अङ्गों का मार्जन है। शक्तियों का सदुपयोग न हुआ तो मार्जन का कुछ भी अर्थ नहीं रहता। इसलिए मार्जन के पहिले इन्द्रियों की अन्तर्मुखता और उनकी शक्तियों की सदुपयोगिता का भाव अवश्य जागृत करना

होता है। यह जागृति का काम इन्द्रिय स्पर्श के मन्त्रों से किया जाता है। जैसे किसी सोये हुए को पकड़कर जगाया जाता है ऐसे ही इन्द्रिय स्पर्श के मन्त्रों से एक २ इन्द्रिय को छू छू कर जगाया जाता है।

इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने और उनके सदुपयोग की भावना को दृढ़ करने केलिए आवश्यक है कि उनके अन्तर्मुख होने का रास्ता साफ़ कर लिया जाय। रास्ता साफ़ न हो उस में अनेक प्रकार के मलों का विक्षेप हो तो पथिक रास्ते को छोड़ २ कर चलता है। साफ़ रास्ते पर गति ठीक होती है। सड़क पर हवा ज़ोर से चलती है और फिर अच्छी बारिश पड़ती है तो सड़क साफ़ हो जाती है, मलों का विक्षेप हट जाता है। सन्ध्या में बैठने से पहिले साधक शौच, दन्तधावन, स्नान, आसन करता है। इन क्रियाओं से बाह्य मलों की शुद्धि होती है। शरीरकी नस नस में रक्त सञ्चार अच्छा हो जाता है। सन्ध्या में बैठ कर साधक रक्त सञ्चार से बढ़ी हुई ऊष्मा को शीतल जल करमूल में लेकर आचमन कर शान्त करता है। शीतल जल के आचमन से उस के हृदय में ठण्डक पहुंचती है, वृत्ति में अन्तर्मुख होने के लिए प्रेरणा होती है। वृत्ति की अन्तर्मुखता में शीतल जल का आचमन बहुत अच्छा सहायक है। शीतल जल के आचमन से शान्ति अनुभव होती है—चारों ओर से सुख की वर्षा का अनुभव होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय शोक इन सब शत्रुओं की शक्ति शीतल जल के आचमन से मन्द

पड़ जाती है। ये शत्रु किस प्रकार मनुष्य को क्षीण और दुर्बल कर देते हैं यह जिसने अनुभव कर लिया है उस को सचमुच आचमन से सुख की वर्षा अनुभव होती है। इस का कारण यह है कि शत्रुओं की प्रचण्ड अग्नि से सन्तप्त मनुष्य शीतल जल का आचमन कर के ठण्डा पड़ जाता है अतः सुख की वर्षा का अनुभव करता है। इस के लिए आचमन किया जाता है।

सन्ध्या में बैठने से पहिले जिस मनुष्य को सांसारिक क्लेशों का अनुभव हो चुका है, जो अनेकबार परास्त हो चुका है, वह मनुष्य अपने अन्दर शक्ति का सञ्चय करने केलिए शिखा बाँधता है अर्थात् पक्का इरादा करता है। जैसे वीरता के काम में कमर कसकर मनुष्य वीरकर्म को सम्पादन करता है ऐसे ही साधक चोटी बांधकर शत्रुओं के परास्त करने के लिए शक्ति संचय करने को उद्यत होता है। सन्ध्या के आरम्भ में चोटी बांधने का अर्थ दृढ़ संकल्प करना है। दृढ़ संकल्प हुआ तो मानो चोटी बंध गई और दृढ़ संकल्प नहीं हुआ तो चोटी बंधी न बंधी एक सी है। केवल बाह्यरूप बनालेने से कार्य सिद्धि नहीं होती आन्तर रूप बनाना आवश्यक होता है। अतः सन्ध्या के आरम्भ में शक्ति सञ्चय का दृढ़ संकल्प करना चाहिए और उस के संकेत के रूप में शिखाबन्धन भी करलेना चाहिए।

इति भूमिका

अथ सन्ध्या–मन्त्रार्थ–व्याख्या.

प्रथम शिखा बन्धन करते हैं, साथ गायत्री मन्त्र बोलते हैं। प्रार्थना करते हैं कि सवितृशक्ति शक्तिसंचय के लिए हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करे। संकल्प दृढ़ हो चुका। उस के चिन्ह स्वरूप शिखाबन्धन भी कर लिया। अब साधक आचमन कर के जल की शीतलता से अपनी मनोवृत्तियों को ठण्डा करता है–शान्त करता है। 'शन्नो देवी०' मन्त्र से आचमन किया जाता है।

अथ आचमन मन्त्रः

मन्त्र—

ओ३म् शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥ अथर्व० का० १ सू० १ मन्त्र १

मन्त्रार्थ—

(नः) हमारे लिए (देवीः) अन्तरिक्षके दिव्य (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) हों, (नः अभिष्टये भवन्तु) हमारे अभीष्ट के लिये हों (नः पीतये

भवन्तु) हमारे पीने के लिये हों। (नः) हमारे लिये (शंयोः) शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के सुख की (अभिस्रवन्तु) चारों ओर से वर्षा करें ॥

व्याख्या—

हमारे लिए दिव्य जल शान्तिदायक हों, हमारे अभीष्ट को सिद्ध करें और हमारी प्यास बुझावें। अन्तरिक्ष के जल दिव्य जल होते हैं। उनमें स्थूल मलिनता नहीं होती। उनमें मलिनता को अपने अन्दर रखने के लिए अधिक सामर्थ्य होती है। दिव्य जल हलके होते हैं अतः शरीर के अङ्गों में शीघ्र जज्ब हो जाते हैं। शरीर के मलों को अपने अन्दर अधिक मात्रा में चूस लेते हैं और मूत्र के द्वारा मलों को बाहिर निकाल देते हैं। मलों के बाहिर निकलने से शरीर हलका पड़ जाता है। मलों के कारण उत्पन्न हुआ शारीरिक अस्वास्थ्य और मानसिक विह्वलता दोनों शान्त होते हैं। दिव्य जल सचमुच हमारे लिए शान्तिकारक होते हैं। वे हमारे अभीष्ट को सिद्ध करते और हमारी प्यास बुझाते हैं। ऐसे अद्भुत दिव्य जल को

---

१ आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः। उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि। दीक्षा तपसोस्तनूरसि तान्त्वा शिवां शग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ यजु० अ० ४ म० २ ॥

दिव्यजल शरीर के सम्पूर्ण दोष को बहादेते हैं।

थोड़ासा गले से नीचे उतारकर अथवा हृदयतक पहुंचाकर अथवा आमाशय से छुआकर मनोवृत्ति को अन्तर्मुख करते हैं।

अथ इन्द्रियस्पर्शः

मन्त्र ---

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रम श्रोत्रम। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः[1]। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतल करपृष्ठे ॥

मन्त्रार्थ—

(वाक्) वाक् इन्द्रिय में (वाक्) बोलने की सामर्थ्य हो। (प्राणः) श्वास लेने की इन्द्रिय (प्राणः) भर कर श्वास लेवे। (चक्षुः) देखने की इन्द्रिय में (चक्षुः) देखने की सामर्थ्य बनी रहे। (श्रोत्रम्) सुनने की इन्द्रिय में (श्रोत्रम) सुनने की शक्ति मन्द न हो। (नाभिः) मेरे शरीर में केन्द्रस्थान—शुक्राशय से पोषक रस का सञ्चार बना रहे। (हृदयम्) मेरे हृदय में से उदारता, उत्साह और दिलेरी का प्रवाह टूटे नहीं। (कण्ठः) कण्ठ में वाक् को व्यक्त करने की शक्ति सर्वदा बनी रहे। (शिरः) देह में श्री के समान शिर

---

१ शिरो मे श्रीः० ॥ यजु० अ० २० म० ५ ॥

में ज्ञान को ग्रहण करने और धारण करने की शक्ति सर्वदा बनी रहे। (बाहुभ्यां यशो बलम्) बाहुओं से यश और बल को प्राप्त करूं। (करतल करपृष्ठे) जो कुछ मेरी हथेली पर आवें वह दूसरों की भलाई के-लिए छूट जावे।

व्याख्या—

जब वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब एक २ इन्द्रिय का नाम ले ले कर और उस को छू छू कर कहते जाते हैं:— 'वाक् वाक्' वाक् इन्द्रिय में बोलने की सामर्थ्य हो—हृदय के भाव को शुद्ध रीति से प्रगट कर सके। 'प्राणः प्राणः' श्वास लेने की इन्द्रिय भर कर श्वास लेवे—रूक कर वा थोड़ा श्वास न आवे। 'चक्षुः चक्षुः' देखने की इन्द्रिय में देखने की सामर्थ्य बनी रहे, प्रत्येक वस्तु का ज्ञान स्वयं देखकर हम ग्रहण करें। 'श्रोत्रम् श्रोत्रम्' हमारी सुनने की इन्द्रिय में सुनने की शक्तिमन्द न हो, जिस ज्ञान को हम स्वयं देखकर ग्रहण नहीं कर सकते उस को दूसरे अनुभवी मनुष्य से सुनकर ग्रहण करें। 'नाभिः' जहां हमारे सम्पूर्ण पोषण का बन्धन है उस केन्द्रस्थान से अर्थात् नाभि से सम्पूर्ण देह में पोषक रस का सञ्चार बना रहे, सम्पूर्ण अङ्गों का बन्धन पोषण स्थान से टूटे नहीं। 'हृदयम्' सम्पूर्ण शरीर में तेज को पहुंचाने का यन्त्र जो रक्त को ग्रहण करने, देने, और रखने का

अनथक काम करता है उस की यह महान् शक्ति टूटे नहीं उस में किसी प्रकार की कमी न आवे। 'कण्ठः' गले में विद्यमान स्वरयन्त्र जो अव्यक्त वाक् को व्यक्त करता है उस की व्यक्त करने की शक्ति सर्वदा बनी रहे। 'शिरः' सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण करने और रखने के कारण देह में श्री के समान शिर में ज्ञान को ग्रहण करने और धारण करने की शक्ति सर्वदा बनी रहे। 'बाहुभ्यां यशोबलम्' बाहुओं से यश और बल को प्राप्त करूं कभी किसी का मोहताज बनकर न रहूं। 'करतल करपृष्ठे' जो कुछ मेरी हथेली पर आवे वह दूसरे के लिए छूट जावे, आए हुए पदार्थों में मेरा मन अटक न जावे। कमाने की और देने की अर्थात् पुरुषार्थ की शक्ति मेरे हाथों में बनी रहे। इस प्रकार एक २ इन्द्रिय को छू २ कर उस की शक्ति का चिन्तन और उस के सदुपयोग का चिन्तन कर के अब भिन्न २ स्थानों में ध्यान के द्वारा शक्ति का सञ्चय किया जाता है और इस प्रकार उस २ अङ्ग का मार्जन होता है।

अथ मार्जनम् ।

मन्त्र—

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः । ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि । ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

मन्त्रार्थ—

(शिरसि) शिर में विद्यमान (भूः) प्राप्ति की शक्ति (पुनातु) शिर को पवित्र करे । (नेत्रयोः) भ्रूमध्य स्थान में विद्यमान (भुवः) गहरा विचार करने की शक्ति अर्थात् स्फुरण शक्ति (पुनातु) भ्रूमध्य को पवित्र करे । (कण्ठे) कण्ठमें विद्यमान (स्वः) अभिव्यक्ति की शक्ति (पुनातु) कण्ठ को पवित्र रक्खे । (हृदये) हृदय में विद्यमान (महः) उदारता वा महत्व का भाव (पुनातु) हृदय को पवित्र करे । (नाभ्याम्) नाभि–शुक्राशयमें विद्यमान (जनः) उत्पत्ति का बीज (पुनातु) नाभि को पवित्र करे–नाभि को छोड़ कर बाहिर न बह जाए । (पादयोः) पैरों में

---

१ भूः प्राप्तौ इस धातु से भूः का अर्थ प्राप्ति है ।

२ भुवोऽवकल्कने इस धातु से भुवः का अर्थ निष्पन्न हुआ है । अवकल्कनम्, परिचिन्तनम् अर्थात् Deep thinking, गहरा विचार ।

विद्यमान (तपः) तपः शक्ति (पुनातु) पैरों को पवित्र करे। (पुनः) इस के पश्चात् (शिरसि) शिर में विद्यमान (सत्यम्) विवेक शक्ति जो सत्य को उपलब्ध कराती है (पुनातु) शिर को पवित्र करे।

व्याख्या—

'भूः पुनातु शिरसि' भूः का अर्थ है प्राप्ति। शिर में विद्यमान भू शक्ति अर्थात् प्राप्ति की शक्ति शिरको पवित्र करे। इन्द्रियों से जो भी ज्ञान प्राप्त होता है उसका स्थान शिर है वह शिरमें इकट्ठा होता है। शिर में विद्यमान इस ज्ञान प्राप्ति की शक्ति के उन्नत होने से शिर पवित्र है। साधक चिन्तन करता है कि शिर में भूः शक्ति बनी रहे। फिर कहता है:—'भुवः पुनातु नेत्रयोः'। भुवः शब्द का अर्थ है (Deep thinking), गहरा विचार। नेत्रों में अर्थात् नेत्रों के बीच में भ्रूमध्य स्थान में गहरा विचार होता है। जिस समय मनुष्य को गहरा विचार करना होता है उस समय वह भ्रूमध्य को पकड़कर बैठ जाता है। भ्रूमध्य में मन टिकानेसे स्फुरणा होती है। भ्रूमध्य में स्फुरणा शक्ति के बढ़ने से इस स्थान की पवित्रता है। साधक कहता है कि नेत्रों में अर्थात् भ्रूमध्य में विद्यमान स्फुरणा शक्ति भ्रूमध्य को पवित्र करे। फिर 'स्वः पुनातु कण्ठे' है। कण्ठ में स्वरयन्त्र है। मनुष्य के हृदय की आवाज कण्ठ में

आकर ही अव्यक्त से व्यक्तरूप धारण करती है। अव्यक्त की अभिव्यक्ति हो जाने से आनन्द आ जाता है, खुशी होती है। कण्ठ में विद्यमान अभिव्यक्ति का स्थान सचमुच सुख, आनन्द, वा हर्ष का स्थान है। स्वरयन्त्र के बिगड़ जाने से अभिव्यक्ति शक्ति मन्द पड़ जाती है। स्वरयन्त्र पवित्र वा निर्दोष नहीं रहता।

इसलिए अभिव्यक्ति शक्ति को संबोधन कर के कहते हैं 'स्वः पुनातु कंठे' कंठ में विद्यमान अभिव्यक्ति शक्ति कंठ को पवित्र रखे। स्वरयंत्र का अच्छी प्रकार उपयोग करने से कंठ पवित्र रहता है।

फिर कहते हैं ' महः पुनातु हृदये '। मनुष्य की महत्ता उस के हृदय की महत्ता वा उदारता पर आश्रित है। उदार हृदय मनुष्य महान् होते हैं। उदारता का संबन्ध हृदय से रक्खा जाता है। मनुष्य का हृदय उदार है तो मनुष्य पूजनीय है, संकुचित है तो निन्दनीय है। इसी लिए साधक कहता है हृदय में विद्यमान उदारता वा महत्व का भाव हृदय को पवित्र करे।

फिर है ' जनः पुनातु नाभ्याम् ' मनुष्य शरीर की नाभि में अर्थात् केन्द्र में जनन शक्ति पैदा करने की शक्ति होती है। यह जनन शक्ति मन्द पड़ जावे, नष्ट हो जावे वा नष्ट कर दी जावे तो मनुष्य जन नहीं रहता वह नपुंसक

हो जाता है। जनन शक्ति की रक्षा से–नाभि में इस के संचय से–इस को न बहाने से नाभि की पवित्रता है और मनुष्य सचमुच मनुष्य है जन है। नाभि में विद्यमान उत्पत्ति का बीज नष्ट हो जावे तो देह की वृद्धि रुक जाती है देह क्षीण होने लगता है ; इसलिए उस जन शक्ति का ध्यान कर के कहते हैं कि वह नाभि में रह कर नाभि को पवित्र करे।

फिर है 'तपः पुनातु पादयोः'। पैरों में तपस् शक्ति का स्मरण किया है। पैरों ने सारे शरीर के बोझ को उठा रक्खा है। गीली, सूखी और ठंडी, गरम जमीन पर शरीर के बोझ को अपने ऊपर ढोकर लेजाते हैं। ठोकर लगती है दर्द होता है परन्तु तप नहीं छोड़ते दूसरों के लिए कष्ट सहन करने को हमेशां तैयार रहते हैं। जीवन[2] की तपस्या का भाग पैरों के हिस्से में ही आया है। पैर तपस्वी रहते हैं, पैरों में घूमने फिरने की बोझ ढोने की शक्ति बनी रहती है तो शरीर स्वस्थ रहता है। पैर सुस्त और आलसी हो जावें तो शरीर रोगी हो जाता है, खाना भी

१ नाभि शब्द से शुक्राशय अभिप्रेत है। शुक्राशय में जनन क्रिया के सहायक शुक्र जीव रहते हैं।

२ शरीर में पग शूद्र स्थानीय हैं "पद्भ्यां शूद्रो अजायत" शूद्रों के लिए "तपसे शूद्रम्" कहा है, इसी के अनुसार पगों के साथ भी तप का सम्बन्ध समझना चाहिए।

हज़म नहीं होता। शरीर का स्वास्थ्य अधिकतर पैरों की तपस्या पर निर्भर है। अतः साधक कहता है पैरों में विद्यमान तपः शक्ति पैरों को पवित्र करे अर्थात् हमेशां पैरों में बनी रहे।

फिर कहा है 'सत्यं पुनातु पुनः शिरसि'। सब इन्द्रियों में शक्ति का संचय हुआ। सब इन्द्रियां ठीक कार्य करने लगीं। ज्ञान का ग्रहण और ज्ञान के अनुसार कर्म दोनों कार्य ठीक २ चलने लगे। यह सब बना बनाया काम बिगड़ सकता है यदि साधक की दृष्टि ठीक २ ज्ञान को ग्रहण करने और उस ज्ञान के अनुसार ठीक २ काम करने की ओर न रहे। यथार्थ ज्ञान और यथार्थ कर्म का नाम ही सत्य है। सत्य की ओर दृष्टि न रहेगी तो मनुष्य का दिमाग़ उलटा ज्ञान और उलटा कर्म करने में प्रवृत्त हो जावेगा। अभिमान, हठ और दुराग्रह मनुष्य को फिर अकर्म और विकर्म में प्रवृत्त कर देंगे।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञान और कर्म में प्रवृत्त इन्द्रियों को सत्य का अवलंबन देता है कि सत्य को अवलंबन कर क ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान ग्रहण करें। और सत्य को अवलम्बन कर के ही कर्मेन्द्रियां ज्ञान को कर्म में परिणत करें। अज्ञान और विकर्म को रोकने के लिए सत्य की बड़ी ढाल है। सत्य पथ पर इन्द्रियों को चलाने के लिए

ज्ञान और अज्ञान में, कर्म और अकर्म में बुद्धि से विवेक करना पड़ता है। विवेक से सत्य की उपलब्धि होती है। साधक कहता है सिर में विद्यमान विवेक शक्ति जो सत्य को उपलब्धी कराती है सिर को पवित्र करे अर्थात् विवेकशक्ति मन्द न पड़े सर्वदा जागृत रहे।

अथ प्राणायामः[1]

मन्त्र—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

मन्त्रार्थ—

(भूः) प्राप्ति (भुवः) चिन्तन (स्वः) अभिव्यक्ति (महः) उदारता (जनः) उत्पादकता (तपः) सहन शक्ति (सत्यम्) विवेक।

---

१ प्राणायाम का सामान्य सा एक प्रकार लिखा है। मनुष्यों की शारीरिक दशा के भिन्न २ होने से एक ही प्रकार का प्राणायाम सब के लिए उपयोगी नही होसकता। शरीर के विकारों को दूर करने के लिए रेचक की आवश्यकता विशेष होती है। शरीर की वृद्धि के लिए पूरक की और प्राणों के बल के लिए कुम्भक की आवश्यकता विशेष है। इसलिए अपनी २ अनुकूलता के लिए इस विषय की शिक्षा किसी अच्छे सुलभ ज्ञाता से लेनी चाहिए॥

व्याख्या—

अपने २ स्थानों में सब शक्तियों के संचय से प्रत्येक स्थान में बल प्राप्त हुआ है। अब संपूर्ण स्थानों के प्राणों को प्राणायाम द्वारा नियमित किया जाता है। भिन्न २ शक्तियों के परमात्मवाची नाम मन से स्मरण कर २ के प्राणों की गति को मन्द करते हुए मन को शान्त करते हैं। सिद्धासन से बैठकर साधक मन को पूर्व मंत्र में कथित स्थानों में लगी हुई सीढ़ी पर मन को उतरा चढ़ा कर उस की चंचलता को ऐसे रोकता है जैसे चंचल मनुष्य की चंचलता को रोकने के लिए उस एक सीढ़ी पर चढ़ने उतरने का काम दे दिया जाता है और उस एक सीढ़ी पर चढ़ते उतरते रहने से उस मनुष्य की चंचलता मन्द हो जाती है।

सांस को बाहिर फेंककर यथाशक्ति रोकते हैं। फिर धीरे २ प्राणायाम मंत्र के साथ सांस लेते जाते हैं। सांस ले चुकने के बाद सांस को छाती में भरे रखते हैं। प्राणायाम मंत्र की एक आवृत्ति में सांस भरा हो तो चार आवृत्ति तक छाती में रोकना पर्याप्त है। फिर धीरे २ सांस को बाहिर फेंकना चाहिए। सांस भरने के पश्चात् निकलने के लिए बहुत जोर करता है, इसलिए प्राणायाम मंत्र की दो आवृति में ही सांस निकाल देना चाहिए। सांस लेने और छोड़ने में आवाज न हो। सांस के उतराव चढ़ाव

में मन रखने से और सांस की गति को मन्द करते जाने से मन बहुत शान्त हो जाता है। फिर तो भरने और छोड़ने की लंबी क्रिया का त्याग कर के एकदम कुछ सांस भरकर हृदय में ध्यान टिकाने का अभ्यास करना चाहिए।

फिर इतनी भी आवश्यकता नहीं, मनुष्य सावधान होकर बैठ जाय और अपने शरीर, प्राण और मन की गति को भी निश्चलता से शान्त कर दे और मन को हृदय की ओर अन्दर २ को खैंचे। जैसे दबे पांव कोठरी में कोई घुसता हो कि ज़रा भी आहट न आवे, ऐसे हृदय की कोठरी में धीरे २ घुसा जाता है। जब सांस छाती मे भर लेते हैं तब भी हृदय में ही ध्यान टिकाते हैं। हृदय में ध्यान टिकाने से ऐसा टिकता है कि हृदय की आहट स्पष्ट सुनाई देने लगती है। फिर मन को हृदय की आहट सुनने से भी हटाया जाता है। तब मन अन्तर्लीन होकर प्रशान्त भाव को ग्रहण करता है। प्राणायाम के पहले यदि क्रमसे एक २ नासा छिद्र से १०, १५ बार श्वास लेने और छोड़ने की क्रिया अर्थात् भस्त्रिका प्राणायाम कर लिया जाय तो श्वास पथ के खुल जाने से प्राणायाम की क्रिया सरलता से और लाभदायक हो सकती है।

अथ अघमर्षणम्

मंत्र—

ओं ऋतञ्च सत्यं चाऽभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो राज्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

मंत्रार्थ—

(अभीद्धात् तपसः) शक्ति (Potential Energy) के रचनात्मक शक्ति (Creative Energy) के रूप में परिणत होने के (अधि) पश्चात् (ऋतम्) नियमें कारणरूप में (च) और (सत्यं) व्यक्तरूप में (च) भी (अजायत) उत्पन्न होता है (ततः) ऋत और सत्य उत्पन्न होने के पश्चात् (रात्रि) सत्य के प्रयोग का

---

१ ऋषि दयानन्द ने यजु० अ० १७ म० ८२ में ऋत का अर्थ विज्ञान किया है।

२ ऋषि दयानन्द ने यजु० अ० ५ म० ३३ में ऋतस्य का अर्थ कारणस्य किया है। इस प्रकार ऋतञ्च सत्यमित्यादि मन्त्र में ऋत का अर्थ कारणात्मक विज्ञान समझना चाहिए। यह विज्ञान सृष्टि के आदि में उन नियमों के अव्यक्त रूप में विद्यमान था जिन के अनुसार सृष्टि बनी।

क्षेत्र अर्थात् प्रकृति के उत्पन्न होने के पश्चात् (समुद्रः) सब को अपने अन्दर से निकालनेवाला और सब को अपने अन्दर लीन करलेनेवाला प्रकृतिरूप समुद्र (अर्णवः) भिन्न २ मंडलों (orbs) में विभक्त हुआ। (समुद्रात् अर्णवात् अधि) प्रकृतिरूप समुद्र के अर्णव अर्थात् मण्डलों में विभक्त होने के पश्चात् (संवत्सरः) मण्डलों की परस्पर परिक्रमा (अजायत) उत्पन्न होती है। फिर (वशी) सर्वशक्तिमान् सब को अपने नियम में रखनेवाला सर्व वश कर्ता वशी (विश्वस्य) विश्व के (मिषतः) देखने मात्र से (अहो रात्राणि) दिन रात को बना डालता है। (धाता) सब को उत्पन्न कर के धारण करने से धाता हो कर (यथापूर्वम्) नंबरवार (स्वः) आपो लोक

१ रात्री = राति ददाति भूतानि इति रात्री वा अव्यक्तेषु नियमेषु व्यक्तं रूपं ददाति इति रात्री। सब उत्पत्ति प्रकृति में से प्रकट होती है इसलिए प्रकृति का नाम रात्री है।

आ रात्री पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः। दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः॥

अर्थ—रात्री ने पृथिवी लोक को भी तमसे भरा है और अन्तरिक्ष स्थानों को भी तमसे भरा है द्युलोक के स्थानों में भी बड़ी विस्तृत रात्री विविध रूप से विद्यमान है। वह तमः संज्ञा वाली रात्री दीप्ति के साथ २ द्युलोक से पृथिवी लोक में लौटती है।

" तमः आसीत् तमसा गूढमग्रे " इस मन्त्र में तमः शब्द का अर्थ तो प्रकृति है ही। वही प्रकृति वाची तमः शब्द यहां रात्री के लिए मन्त्र में आया है।

को (दिवम्) द्यु लोक को (च) और (पृथिवीम्) पृथ्वी लोक को (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक को बनाता है। वह ही (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्यचन्द्रमा को और इन सब को चक्कर में डाल कर अहोरात्र बनाता है।

व्याख्या—

अब मन के शान्त होनेपर परमेश्वर की विभूति की ओर ओर रचना क्रम की और दृष्टिपात कर के अहंकार के नाश से अघमर्षण किया जाता है। ऋतं च सत्यमित्यादि तीन मंत्र अघमर्षण मंत्र कहलाते हैं। जब मनुष्य किसी कार्य को बनाने के लिए उद्यत होता है तब श्रम करता है श्रम करने से पहिले उस मनुष्य के मन में (Intense heat) जिस का नाम तप है वह तप उत्पन्न होता है। यह तप जितना प्रबल होता है उतनी ही प्रबलता से श्रम होता है। जो वस्तु बनानी होती है वा जो क्रिया करनी होती है उस का विचार बार २ निरन्तर अपने मन में लाने से तत्परता में बल आजाता है। तत्परता का स्वरूप तप है। तप में बल आता है तो तप प्रदीप्त कहलाता है। प्रदीप्त तप को ही मंत्र में अभीद्ध तप कहा है। तप के अभीद्ध होने के लिए विचार वा कामना की आवश्यकता है। और बिना विचार वा कामना के न तप हो सकता है और न वह अभीद्ध हो सकता है। इसीलिए सृष्टि विद्या पर विचार करनेवाले तत्वज्ञानियोंने काम, तप और श्रम को पूर्वापर

क्रम से इकट्ठा रक्खा है ' सोऽकामयत ' ' सः तपोऽतप्यत ' ' सोऽश्राम्यत ' । सृष्टि के अनादि नियम के प्रवाह चक्र में जब शक्ति संचय अत्यधिक रूप में हो चुकता है तब वह स्वभाव से रचनात्मक शक्ति (Creative energy) के रूप में परिणत हो जाता है । शक्ति का रचनात्मक शक्ति के रूप में बदल जाने का नाम ही अभिद्ध तप है । शक्ति संचय कामना की अवस्था है । अभीद्ध तप, तप की अवस्था है । और उस के बाद रचना वा उत्पत्ति श्रम की अवस्था है । अभीद्ध तप होने से कुछ उत्पन्न होता है । इसीलिए लिखा है ' अभीद्धात् तपसः अधि अजायत ' अर्थात् अभीद्ध तप होने के बाद उत्पत्ति आरंभ हुई । उत्पत्ति आरंभ होती है तो सब से पहिले वे साधारण नियम प्रकट होते हैं जिन नियमों के आधार पर सृष्टि बननी होती है । उन नियमों के दो रूप हैं—१ विचारात्मक, मानासिक वा कामात्मक, २ क्रियात्मक, शारीरिक वा प्रवृत्ति रूप । अभीद्ध तप के कारण प्रकृति में परिवर्तन आरंभ होता है । इस परिवर्तन में नियम का प्रयोग रहता है । नियम प्रयोग में आकर ही स्पष्ट होता है—उस की सत्ता मालूम होती है । जब तक नियम प्रयोग में नहीं आते तब तक उन की सत्ता प्रकट नहीं होती । जब सत्ता व्यक्त होती है तब उन नियमों का नाम सत्य है । जब सत्ता व्यक्त नही होती अव्यक्त रहती है, तब उन नियमों का नाम ऋत है । अभीद्ध तप से ऋत उत्पन्न हुआ और फिर सत्य उत्पन्न हुआ । मनुष्य

भी जब, किसी कार्य को करने के लिए उद्यत होता है। तब 'उस कार्य को करूंगा' ऐसी मन में कामना करता है। इस कामना को वार २ मन में लाता है।

वार २ मन में लाने से कार्योन्मुख होने में इतनी तीव्रता आजाती है कि वह कार्य करने को उद्यत हो ही जाता है—बेबस हो जाता है, कार्य किये बिना उस से रहा ही नहीं जाता। फल को दृष्टि में रखकर कार्य की बाह्यरूप रेखा (out line) उस के मन में जम जाती है। जब वह बाह्यरूप रेखा कार्य में परिणत होने लगती है तब उस का अव्यक्त से व्यक्तीभाव होता है। यह व्यक्ती भाव सत्य है और वह अव्यक्त भाव ऋत है। फल की दृष्टि से अव्यक्त भाव अनेक रूपों में प्रकट हो सकता है परन्तु जिस रूप में प्रकट हो गया वह रूप स्थिर हो जाता है। ऋत अनेक रूपों में प्रकट हो सकने के कारण किसी नियत रूप वाला नहीं है परन्तु सत्य तो एक विशेष रूप रखने के कारण नियत रूप वाला है—एक रूप वाला है। इस प्रकार ऋत पूर्वरूप है और सत्य उत्तर रूप है। अभीद्ध तप से पहिले ऋत उत्पन्न होता है और फिर सत्य होता है।

ऋत और सत्य उत्पन्न होने के बाद रात्रि उत्पन्न हुई। रात्रि सत्य के प्रयोग का क्षेत्र है। सत्य के प्रकट होते ही साथ ही उस का क्षेत्र प्रकट होता है। सत्य प्रकट

हो और उस के प्रकट होने का क्षेत्र न हो तो सत्य के प्रकट होने का कुछ अर्थ ही नहीं। विचार के किसी विशेष रूप को धारण करने का नाम सत्य है। जो पदार्थ विचार को विशेष रूप देता है उस पदार्थ का नाम रात्रि है। कुम्हार के विचार को विशेष रूप देने का साधन मिट्टी है। कुम्हार के विचारात्मक घड़े में विधि विशेष से मिट्टी भर जाती है तो विचारात्मक घड़ा स्थूल आकार वाले घड़े के रूप में दीखने लगता है और छुआ जासकता है। इसी प्रकार अभीद्ध तप से प्रबल हुई विशिष्ट ज्ञानात्मक वृत्ति अर्थात् ऋत जैसे ही विशिष्ट ज्ञानात्मकता को धारण करता है वैसे ही उस विशिष्टता के हेतु रात्रि का भी अस्तित्व हो जाता है। अभीद्ध तप में विद्यमान ज्ञान वृत्ति को, प्रबलता ही, विशिष्ट करने में अर्थात् सत्य बनाने में वा रात्रि की उत्पत्ति में हेतु है। कुम्हार के विचार को स्थूल रूप में दिखाने वाली मिट्टी के समान ऋत को स्थूल रूप में अर्थात् सत्य में दिखाने वाली रात्रि है। इसी रात्रि का दूसरा प्रचलित नाम प्रकृति है। इस प्रकृति अर्थात् रात्रि में ऋत अर्थात् ज्ञान रहता है जो सत्य रूप में प्रकट होता है और जिसे सत्व कहते हैं। ऋत को स्थूल भाव में लाने वाला साधन तम है और स्थूल भाव में लाने के लिए जो सत्व और तम का संबंध करने वाली क्रिया वृत्ति है वह रज है। इस प्रकार सत्व रजस् तमसात्मक प्रकृति का नाम

रात्रि है। यह रात्रि अर्थात् प्रकृति ऋत और सत्य के बाद उत्पन्न हुई।

रात्रि के उत्पन्न होने के बाद 'अर्णव समुद्र' हुआ। प्रकृति प्रकाशात्मक गत्यात्मक और अन्धकारात्मक वा स्थित्यात्मक त्रिविध भावों में विभक्त हो कर पारस्परिक आकर्षण प्रत्याकर्षण से विभिन्न पिंडो में विभक्त हो जाती है। प्रकृति (Matter) एक महान् समुद्र है जिस में से सब स्थूल पदार्थ निकलते हैं उन की उत्पत्ति होती है। उसी से निकलते और उसी में लीन हो जाते हैं। वह समुद्र भिन्न २ खंडो में विभक्त हो जाता है जिन्हें अर्णव (orbs) कहते हैं।

इस प्रकार Matter in orbs का नाम समुद्रोऽर्णवः है। रात्रि के बाद समुद्रोऽर्णवः का ही क्रम है। समुद्र-अर्णव के बाद 'संवत्सर' उत्पन्न हुआ। आकर्षण प्रत्या-कर्षण से अर्णव के अवयव परस्पर एक दूसरे के गिर्द घूमते रहते हैं। अवयवों के घूमते २ पिण्ड स्थूल और घने होने लगते हैं। पहिले जैसे एक अवयव दूसरे अवयव के चारों ओर घूमता था वैसे एक पिण्ड दूसरे पिण्ड के चारों ओर घूमने लगता है। एक पिण्ड का दूसरे पिंड के चारों ओर एक पूर्ण परिक्रमा कर लेने का नाम संवत्सर है। इस प्रकार समुद्र अर्णव के बाद संवत्सर का क्रम है। जब तक दो ज्योतिष्मान् पिंडो में एक दूसरे की परिक्रमा

करता है तब तक अहो रात्र उत्पन्न नहीं हो सकते। अहो-रात्र उत्पन्न होने के लिए एक पिंड ज्योतिष्मान् होना चाहिए और दूसरा अज्योति होना चाहिए। अज्योतिः पिंड का ज्योतिष्मान् पिंड के द्वारा प्रकाशमान् भाग अहः कहलाता है और अन्धकारमय भाग रात्रि कहलाता है। परस्पर घूमने वाले अवयवों के समूहों से बने हुए पिंड भी अवयवों के परस्पर घूमने के नियम से ही परस्पर और अपने चारों ओर भी घूमते हैं। इस प्रकार एक अज्योतिः पिंड अपने चारों ओर और एक स्वयंज्योतिः पिंड के चारों ओर घूमताहै तो अहोरात्र और संवत्सर दोनों विद्यमान् रहते हैं। संवत्सर के अनन्तर अहोरात्र की उत्पत्ति कथन करने से सूचित किया है कि ज्योतिष्मान् पिंड कालान्तर में ठंडे हो-कर अज्योतिः पिंड बन जाते हैं। अज्योतिः पिंड बन जाने के बाद उन में अहोरात्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार साधक कहता है कि सर्वशक्तिमान्, सब को अपने नियम में रखन वाले सर्व वश कर्ता, वशीने अपने अन्दर विश्व के देखने मात्र से अहोरात्र तक बना डाले।

वह वशी था परन्तु अब सब को उत्पन्न कर के धारण करने से धाता हो गया। उसने क्या २ बनाया? पहले नंबर का पहले दूसरे नंबर का दूसरे और तिसरे नंबरं का तीसरे, इस प्रकार पूर्व २ को अतिक्रमण न कर के—नंबरवार एक २ वस्तु को बनाया। उसने स्वः

अर्थात् आपो लोक जिसे चतुर्थ लोक अस्ति वा न वा शब्द से कहते हैं उसे बनाया। उसने द्युलोक, पृथिवी लोक और इन के बीच में विद्यमान अन्तरिक्ष लोक बनाया। उसने सूर्य और चन्द्रमा बनाये और इन सब को चक्कर में डाल कर अहोरात्र बनाये। इस प्रकार उसने सब कुछ बनाया। वह प्रभु है, वह महान् है। उस से अधिक महान् कोई नहीं होसकता कितना भी महान् कोई क्यों न हो जावे। कोई मनुष्य दूसरों पर हकूमत चलाकर अभिमान में आजाता है और अपने आप को ऐसा समझता है कि उस से परे कोई नहीं जो चाहे वह कर सकता है। परन्तु वह प्रभु तो वशी है सब को वश में रखता है, कैसा भी ऐश्वर्यवान् क्यों न हो उस के वश से—उस के पंजे से—छूट कर कोई कहीं नहीं जा सकता। उस प्रभु के सामने मनुष्य का सब अहंकार टूट जाता है, मनुष्य को नम्र होना पड़ता है। पापों के मूल अहंकार के टूट जाने से अघों का मर्षण होता है।

अघमर्षण हो चुकने के अनन्तर साधक अपनी साधना की एक २ दिशापर दृष्टिपात करता है। जिस २ दिशा में वह उन्नति करना चाहता है उस २ दिशा में उसी वशी के गुणों का चिन्तन करते हुए और उन २ गुणों के समुदाय के द्योतक विभिन्न नामों से उसी वशी को उस २ दिशा में अधिपति वा आदर्श स्थापित करते हुए वह साधक

अपने आदर्श के सामने झुकता है, नम्र होता है उस २ दिशा में उस २ आदर्श को धारण करने के लिए उद्यत होता है इतना ही नहीं किन्तु उस २ आदर्श की प्राप्ति के लिए उपयोगी रक्षक भाव के आगे भी झुकता है अर्थात् अपने मन की दृढ़ भावना से उसे अङ्गीकार करता है और साथ ही उस २ आदर्श की प्राप्ति में जो प्रेरक होते हैं उन प्रेरकों को भी अच्छी प्रकार मन में धारण करता है इस प्रकार उन के भी आगे झुकता है। आदर्श की ओर बढ़ने में पारस्परिक सहाय की—पारस्परिक प्रीति की आवश्यकता है। हम जिन के अप्रीति के पात्र हैं और जो हमारे अप्रीति के पात्र हैं उन सब अप्रीति के पात्रों को हे वशी आप अपने वश में रखिए अपनी कृपा से सब को एक दूसरे का प्रीति का पात्र बनाइए।

अथ मनसा परिक्रमणम्

मन्त्र—

ओं प्राचीदिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

मंन्त्रार्थ—

सब से प्रथम मेरी (प्राचीदिक्) आगे बढ़ने की

दिशा है। इस प्राची दिशा में मेरा (अधिपतिः) आदर्श (अग्निः) सब के आगे रहनेवाला और सब को आगे ले जानेवाला अग्नि है। इस प्राची दिशा में रहने के लिए (असितः) बन्धन रहित रहने का भाव (रक्षिता) रक्षक है। (आदित्याः) ज्ञान के तत्व रस को ग्रहण किये हुए आदित्य मनुष्य मेरे (इषवः) प्रेरक हैं। (तेभ्यः) उन के लिए (नमः) नमस्कार हो, (अधिपतिभ्यः) आदर्श के लिए (नमः) नमस्कार हो, (रक्षितृभ्यः) रक्षक भाव के लिए (नमः) नमस्कार हो, (इषुभ्यः) प्रेरक आदित्यों के लिए (नमः) नमस्कार हो। इस प्रकार (एभ्यः) इन सब के लिए (अस्तु) नमस्कार हो। (यः) जो आगे बढ़ने में (अस्मान्) हमारे साथ (द्वेष्टि) अप्रीति करता है (च) और (यम्) जिस को (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं अर्थात् अपने मार्ग में विघ्नकारी समझते हैं (तम्) उस भाव को हे वशी (वः) तुम्हारे (जम्भे) कब्जे में (दध्मः) रखते हैं कि जिस से हम सब परस्पर प्रीति के पात्र बने रहें, आगे बढ़ने के लिए परस्पर सहायक हों और किसी की अप्रीति का पात्र न बनें॥ Open chance to progress in the field of knowledge for every one.

व्याख्या—

साधक अपनी साधना की एक २ दिशा पर दृष्टि-पात करता हुआ सब से प्रथम अपनी आगे बढ़ने की दिशा पर दृष्टिपात करता है। आगे बढ़ने वालों में आदर्श रूप से आगे बढ़ने वाले का नाम अग्नि है। अग्नि है ही वह जो सब के आगे रहता है और सब को आगे लेजाता है। यदि साधक की प्राची दिशा है—आगे बढ़ने की दिशा है—तो उसे अपना आदर्श अग्नि बनाना होता है। सब से आगे रहने से और सब को आगे चलाने से प्राची दिशा का मालिक ही अग्नि हो गया है। क्योंकि प्राची दिशा के लिए अग्नि के सिवाय और कोई आदर्श नहीं ठहरता। एक मनुष्य दौड़ में आगे भागा जा रहा है, अचानक उस का कपड़ा किसी झाड़ में उलझ जाता है। वह झाड़ के बन्धन में पड़ कर आगे नहीं बढ़ सकता रुक-जाता है। उस का अग्नि आदर्श उस से छूट जाता है। अग्नि की कोटि तक तो वह ही पहुंच सकता है जो बन्धन रहित है जिस की आगे बढ़ने के लिए गति निर्बाध है। अग्नि होने के लिए बन्धन रहित होना यह ही उपयोगी साधन है, यह ही उसका रक्षिता है—अग्नि रूप में उस को रखने वाला है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक इन छः शत्रुओं के बन्धन में पड़ा तो अग्नि कैसे बन सकता है। बन्धन में पड़ते ही अग्निपन नहीं रहता प्रगति टूट

जाती है। इसलिए प्रगति को रोकने के लिए जो मार्ग में आक्रमण हैं उनका भी साधक को भली प्रकार ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उन के बन्धन में न आजावे। बन्धनों से बचने के लिए ऐसे पहुंचेहुओं से प्रेरणा लेते रहना आवश्यक होता है जो आदित्य पदवी को प्राप्त हुए हैं। आदित्य पुरुष ज्ञान के तत्व रस को ग्रहण करते २ आदित्य बनगए हैं। जो पुरुष प्रगतिशील हैं उन्हें रास्ता दिखलाने केलिए ये आदित्य पुरुष ही उन्हें अपनी ज्ञानज्योति का प्रकाश देते हैं। आदित्य पुरूषों से ज्ञान निकलता रहता है। ज्ञान के द्वारा गति देने वा प्रेरणा करने से ये आदित्य पुरुष इषु कहलाते हैं। अग्नि पद के लिए यतनशील साधक आदित्य पुरूषों से विशेष सहायता प्राप्त करता है, उन के आगे झुकता है उन को मानता है। इस प्रकार आदर्श और आदर्श के लिए रक्षक और प्रेरक उपाय इन सब का उस साधक को ध्यान रखना पड़ता है—उन की तरफ़ झुकना पड़ता है उन की तरफ़ अपना ध्यान करना पड़ता है। अब वह साधक अग्नि होने के लिए सहायकरूप से अविद्यमान जिन का अप्रीति का पात्र है अथवा अपने उद्देश्य की सिद्धि में बाधक जिन्हें अपना अप्रीति का पात्र बनाता है उन सब को उस न्याय कर्ता वशी के आधीन करता है और उस वशी से प्रार्थना करता है कि आप सब को अपनी कृपा से एक दूसरे का प्रीति का पात्र बनाइए।

मन्त्र—

ओं दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

मन्त्रार्थ—

अब (दिक्) दिशा (दक्षिणा) वीर्य और बल प्राप्ति की दिशा है । वीर्य और बल प्राप्ति के लिए (अधिपतिः) आदर्श (इन्द्रः) इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्यवान् बनना है । ऐश्वर्य के मार्ग में चलते २ ऐश्वर्य के मद से टेढ़ी वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं तब मनुष्य अपने आदर्श से च्युत हो जाता है । (तिरश्चिराजी) टेढ़ी रेखाओं के उदय होने की आशंका का भाव आदर्श से च्युत होने से उस का (रक्षिता) रक्षक है । (पितरः) दूसरों का पालन करनेवाले पितर या पालन पोषण का इन्तज़ाम करने वाले अनुभवी बुज़ुर्ग मनुष्य (इषवः) ऐश्वर्य की दिशा की ओर प्रेरक हैं और ऐश्वर्य को उचित उपयोग में लाने के भी प्रेरक हैं मार्गदर्शक हैं । (तेभ्यः) उन सब के लिए (नमः) नमस्कार हो, (अधिपतिभ्यः) आदर्श के लिए (नमः)

नमस्कार हो, (रक्षितृभ्यः) रक्षक भाव के लिए (नमः) नमस्कार हो, (इषुभ्यः) प्रेरक पितरों के लिए (नमः) नमस्कार हो। इस प्रकार (एभ्यः) इन सब के लिए नमस्कार (अस्तु) हो। (यः) जो ऐश्वर्य प्राप्ति में (अस्मान्) हमारे साथ (द्वेष्टि) अप्रीति करता है और (यम्) जिस को (वयम्) हम (द्विष्मः) अपने मार्ग में विघ्नकारी समझ कर अप्रीति करते हैं (तम्) उस भाव को हे वशी (वः) तुम्हारी (जम्भे) आधीनता में (दध्मः) रखते हैं कि जिस से हम सब परस्पर प्रीति के पात्र बने रहें, ऐश्वर्य प्राप्ति में परस्पर सहायक हों और किसी की अप्रीति का पात्र न बनें॥

व्याख्या—

अब आगे बढ़ते २ साधक की दिशा दक्षिणा हो गई है। दक्षिणा के लिए वह इन्द्र को अपना आदर्श समझता है। दक्षिणा शब्द में दक्ष धातु विद्यमान है। दक्ष का अर्थ है वीर्य वा बल। साधक बल की साधना करता है। बल से ऐश्वर्य प्राप्त होता है। निर्बल के पास ऐश्वर्य कहां। जो मनुष्य ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए यत्नवान् है वह इतना ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहता है कि इन्द्र बन जाय। ऐश्वर्य की प्राप्ति में साधक का लक्ष्य इन्द्र बनना है। ऐश्वर्य प्राप्ति से बड़ी भारी आशङ्का इस बात की रहती है कि मनुष्य के मन में ईर्ष्या, लोभ, अभिमान

और निर्दयता की टेढ़ी वृत्तियां कहीं जागृत न हो जावें। इन टेढ़ी वृत्तियों पर वा इन टेढ़ी लाइनों पर चलने से साधक इन्द्र पदवी को नहीं पहुंच सकता, उस की दक्षिणा दिशा नहीं रह सकती। वह दूसरों की नज़रों में गिर-जाता है। उसे टेढ़े रस्तों की तरफ़ फिरजाने से अपने आप को बचाना पड़ता है। जो साधक टेढ़े रस्तों से बचता है और सर्वदा सीधे रस्ते का अवलंबन करता है वह ऐश्वर्य को और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। दूसरों का पालन पोषण करने वाले पितर या पालन पोषण का इन्तज़ाम करने वाले अनुभवी बुज़र्ग पुरुष उस साधक को उस की अभीष्ट दिशा की ओर प्रेरणा करते रहते हैं। पितरों से सन्मार्ग की ओर—दक्षिण दिशा की ओर—प्रेरणा लेकर साधक अपने ऐश्वर्य प्राप्ति के वा इन्द्र होने के उद्देश्य को पूरा करता है। पितरों से उस को प्रेरणा मिलती है कि उस का धन दूसरों के पालन पोषण के निमित्त वा परोपकार के निमित्त लगना चाहिए। धन कमाकर वा इन्द्र की पदवी प्राप्त कर के साधक दूसरों के लिए पितृ स्थान को पूरा करता है। अन्त में अपने सहायकों, रक्षकों और प्रेरकों को नमस्कार करता है—उन के आगे झुकता है और उद्देश्य की ओर चलते हुए जो भाव अपने से अप्रीति करते हैं वा विघ्न करने के कारण अप्रीति के पात्र होते हैं उन सब को उस न्याय कर्ता वशी के सुपुर्द करता

है और प्रार्थना करता है कि आप हम सब को अपनी कृपा से परस्पर प्रीति का पात्र बनाइए।

मन्त्र—

ओं प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिताऽन्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

मन्त्रार्थ—

अब (प्रतीची दिक्) सांसारिक ऐश्वर्य से पराङ्मुख होने की, वैराग्य की वा पीछे लौटने की दिशा है। (वरुणः अधिपतिः) वैराग्य की दिशा अवलंबन करने में आदर्श वरुण है। (पृदाकू रक्षिता) विषयों के बाह्य आकर्षक और लुभाने वाले रूपों के प्रति डसने वाले साँप का भाव ही रक्षक है। (अन्नम् इषवः) भूतों को खा डालने वाले अन्न संज्ञक मनुष्य ही प्रेरक हैं। (तेभ्यः) उन सब के लिए (नमः) नमस्कार हो, (अधिपतिभ्यः) आदर्श वरुण के लिए (नमः) नमस्कार हो, (रक्षितृभ्यः) विषय सर्प के समान हैं इस रक्षक भाव के लिए (नमः) नमस्कार हो, (एभ्यः) इन सब के लिए नमस्कार (अस्तु) हो। (यः) जो (अस्मान्) हम को (द्वेष्टि) वैराग्य वृत्ति से हटाता है

और (यम्) जिस को (वयम्) हम (द्विष्मः) अपनी दिशा में विघ्नकारी समझते हैं (तम्) उस संपूर्ण भाव को हे वशी (वः) तुम्हारे (जम्भे) वश में (दध्मः) रखते हैं कि जिस से हम सब परस्पर प्रीति के पात्र बन कर एक दूसरे को उन्नति करने में सहायक हो सकें ॥ The best is not the object but it is the subject itself in them.

व्याख्या—

साधक आगे बढ़ा, ऐश्वर्य भी उसने प्राप्त किया अब वह सांसारिक पदार्थों से पराङ्मुख होता है। सांसारिक ऐश्वर्य की असारता को समझ कर पीछे लौटता है। यह पराङ्मुखता की, वैराग्य की वा पीछे लौटने की दिशा साधक की प्रतीची दिशा है। सांसारिक पदार्थों की ओर गति करने की दिशा अन्वाची है और पदार्थों से विपरीत दिशा प्रतीची है। प्रतीची दिशा का अधिपति वा आदर्श वरुण है। इस त्याग वृत्ति को ओर चलता हुआ साधक वरुण हो जाने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान ग्रहण करने योग्य वा वरण करने योग्य अंश अर्थात् जो best है वह वरुण है। साधक विषयों के बाह्य आकर्षक अंशों का त्याग कर के वरुण को ग्रहण करता है। वरुण को ग्रहण करते २ वह वरुण हो जाना चाहता है। वह अच्छी प्रकार समझ लेता है कि विषयों

के बाह्य आकर्षक और लुभाने वाले रूप डसने वाले सांप के समान हैं। इन के डसने से साधक वरुण नहीं बन सकता। उस से ग्रहण करने योग्य अंश छूट जावेगा। साधक सावधान रहता है विषय के सामने आते ही उस में विद्यमान प्रलोभक सांप का अंश उसे याद आता है। यह स्मृति उसे गिरने से बचाती है—यह अविद्या की स्मृति उस की मृत्यु से रक्षा करती है और वरुण के आश्रय से अर्थात् विद्या के द्वारा वह अमृतत्व को प्राप्त होता है—परमात्माका दर्शन करता है। साधक को वरुण पदवी तक पहुंचाने के लिए प्रेरक मनुष्य अन्न हैं। जो भूतों को खाते हैं और भूत जिन्हें खाते हैं दोनों ही अन्न होते हैं। साधारण लोग जिन्हें विषय आकर्षित करते हैं उन्हें भूत खाते हैं—वे भूतों से (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश से) खाये जा रहे हैं, और जिन्हें विषय आकर्षित नहीं करते—जिन्हों ने विषयों को जीत लिया है, वे भूतों को खाते हैं भूत उन्हें नहीं खात—वश में नहीं कर सकते। वरुण को सिद्ध करने वाले मनुष्य भूतों से नहीं खाए जाते वे भूतों को खा डालते हैं क्योंकि वे भूतों के क्षेत्र से बाहर निकल जाते हैं। ये ही अन्न रूप मनुष्य नवीन साधक के लिए इषु अर्थात् प्रेरक होते हैं। इन की प्रेरणा को पाता हुआ साधक अवश्य वरुण हो जाता है। साधक अपने आदर्श को—अधिपति को—नमस्कार करता है। अपने रक्षक

भाव को और अपने प्रेरक को नमस्कार करता है। इस प्रकार सब को नमस्कार कर चुकने के बाद अपने विघ्नकारी अप्रीति के पात्रों—भावों को सर्व वशकर्त्ता वशी के आधीन करता है कि परमेश्वर अपनी कृपा से सब को परस्पर प्रीति का पात्र बनावे ॥

मन्त्र—

ओं उदीचीदिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

मन्त्रार्थ—

अब (उदीचीदिक्) उत्कृष्टता की वा शान्ति की दिशा है। (सोमः अधिपतिः) शान्ति की दिशा में आदर्श सोम है। (स्वजः रक्षिता) शान्तिमय सोम की उत्पत्ति आत्मा से होती है यह भाव ही इस दिशा में मनुष्य को टिकानेवाला है उसका रक्षक है। (अशनिः इषवः) जो आत्मा को प्राप्त कर चुके हैं वे मनुष्य प्रेरक हैं। (तेभ्यः) उन सब के लिए (नमः) नमस्कार हो (अधिपतिभ्यः) आदर्श सोम के लिए (नमः) नमस्कार हो, (रक्षितृभ्यः) शान्ति आत्मा से मिलती है इस भाव के लिए (नमः) नमस्कार हो, (इषुभ्यः)

आत्मा जिन को सिद्ध हुआ है उन प्रेरक मनुष्यों के लिए (नमः) नमस्कार हो, (एभ्यः) इन सब के लिए नमस्कार (अस्तु) हो । (यः) जो (अस्मान्) हम को (द्वेष्टि) शान्ति के सच्चे उपाय आत्म साधन से हटाता है और (यम्) जिस को (वयम्) हम (द्विष्मः) शान्ति के साधन में बाधक भाव समझते हैं (तम्) उस भाव को (वः) हे प्रभो तुम्हारे (जम्भे) वश में (दध्मः) रखते हैं कि जिस से हम परस्पर प्रीति युक्त हो कर आत्मिक साधन में परस्पर सहायक हो सकें ॥ Peace is within and not without.

व्याख्या—

साधक त्यागवृत्ति से सम्पन्न हो कर अन्तर्मुख होता है तो उसे शान्ति का अनुभव होता है। शान्त होने के लिए उस का आदर्श सोम है। वह सोम होना चाहता है। यह दिशा उस की उत्कृष्टता की है। प्रत्येक वस्तु में और अपने अन्तःकरण में वरुण (best) को ग्रहण करने से अब उस की दिशा उत्कृष्टता की ओर हो चुकी है। यह उत्कृष्टता की दिशा ही उदीची दिशा है । उत्कर्ष के शिखर पर पहुंचने का आदर्श वा उत्कृष्टता की दिशा का अधिपति सोम है। वरुण को पकड़ते २ मनुष्य शान्त भाव को प्राप्त होता है—वह सोम बन जाता है। इस शान्ति-मय सोम की प्राप्ति साधक को कहीं बाहिर से नहीं हुई है

वह अपने अन्दर से ही हुई है। वह सोम स्व+ज है। सोम का जन्म आत्मा से है। संसार में अज्ञानी मनुष्य समझ रहे हैं कि सोम की (शान्ति की) प्राप्ति बाहिर के साधनों के अधिक २ बढ़ाने से हो जावेगी। परन्तु ऐसा नहीं है। सोम स्वजः है। उस का जन्म भीतर से आत्मा से है। यही भाव साधक को शान्त भाव की ओर रखता है। वे मनुष्य, जो सोम की प्राप्त के लिए आत्मा की ओर गति कर चुके हैं, अशनि कहलाते हैं। वे अशनि ही साधक के प्रेरक हैं। अश्नाति भोगामित्यशः, अश्नुते व्याप्नोति वा कार्यं जगादित्यशः; अशं नयतीत्यशनिः अर्थात् संपूर्ण भोगों को ग्रहण करने से आत्मा अश है अथवा संसार के पदार्थों को और इन्द्रियादि को जिसने अपने सामर्थ्य से व्याप रखा है इस कारण आत्मा का नाम अश है, उस आत्मा को जो मनुष्य प्राप्त करते हैं उस की ओर गति करते हैं उन का नाम अशनि है। आत्मा की ओर गति करने वाले मनुष्य अन्तर्दृष्टि हो कर वैराग्य संपन्न हो कर शान्ति को वा सोम को अवश्य प्राप्त होते हैं; उन अशनि मनुष्यों से साधक को सोम प्राप्ति की ओर विशेष प्रेरणा मिलती है इसीलिए अशनि इषु हैं। साधक उन सब को नमस्कार करता है वह अपने आदर्श के सामने झुकता है, वह अपने रक्षक भाव की ओर झुकता है और अपने उद्देश्य की ओर प्रेरणा देनेवालों की ओर झुकता है। इस प्रकार इन सब को

नमस्कार कर के सोम प्राप्ति के प्रति अपने अप्रीतिकर विघ्नकारी विरोधी भावों को और जो भी बाधक भाव हैं उन सब को उस वशी के आधीन करता है कि वह वशी पारस्परिक अप्रीति को दूर कर के सब को शान्त बनावे।

मन्त्र—

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

मन्त्रार्थ-

अब (ध्रुवादिक्) स्थिरता की दिशा है। (विष्णुः) इस दिशा में, निर्लेप रहने वाला व्यापक और यज्ञमय विष्णु, (अधिपतिः) आदर्श है। (कल्माष ग्रीवः रक्षिता) कर्म में प्रतिष्ठित होना प्राण के समान है—जीवन है—यह भाव रक्षक है। (वीरुध इषवः) चारों ओर विविध दिशाओं में अनासक्त भाव से जिन की गति है ऐसे वीरुध् मनुष्य प्रेरक हैं। (तेभ्यः) उन सब के लिए (नमः) नमस्कार हो, (अधिपतिभ्यः) आदर्श निर्लेप विष्णु के लिए (नमः) नमस्कार हो, (रक्षितृभ्यः) कर्म में प्रतिष्ठित होने का जो रक्षक भाव है उस के लिए (नमः) नमस्कार हो, (इषुभ्यः) गतिशील

और अनासक्त प्रेरक मनुष्यों के लिए (नमः) नमस्कार हो, (एभ्यः) इस प्रकार इन सब के लिए नमस्कार (अस्तु) हो । (यः) जो (अस्मान्) हम को (द्वेष्टि) अनासक्त भाव से कर्म में प्रतिष्ठित होने की इस स्थिरता की दिशा में अप्रीति करता है और (यम्) जिस को (वयम्) हम (द्विष्मः) इस दिशा में बाधक होने से अप्रीति करते हैं (तम्) उस को हे सर्व नियन्तः (वः) तुम्हारे (जम्भे) बन्धन में (दध्मः) रखते हैं कि जिम से हम सब परस्पर प्रीतियुक्त होकर स्थिर वा सच्ची शान्ति को प्राप्त करने के लिए परस्पर सहायक हो सकें ॥ Non attachment is the real test of permenent peace.

व्याख्या—

साधक उत्कृष्टता की ओर बढ़ चुका । उस को सोम की अर्थात् शान्ति की प्राप्ति हो चुकी । अब वह अपनी दिशा स्थिरता लाने की ओर करता है । यह स्थिरता की दिशा उस की ध्रुवादिक् कहलाती है । शान्त भाव में स्थिर भी रहना और सर्वत्र शान्ति का अनुभव करना तथा किसी सांसारिक विषय के संबंध में आने पर उस से अशान्त न होना अब यह आदर्श उस का स्थापित होता है ध्रुवादिक् के इस आदर्श का नाम विष्णु है । ध्रुवादिक् का अधिपति विष्णु है विष्णु का अर्थ व्यापक है, विष्णु का अर्थ यज्ञ है । साधक

अपनी परख करता है—अपने आत्मा को फैलाता है, अपने आत्मा को सांसारिक विषयों के साथ संबन्ध करता है इस संबन्ध में वह निर्लेप रहता है उस की शान्ति भंग नहीं होती, स्थिर रहती है, तो वह समझता है कि उस की शान्ति की स्थिरता की दिशा ध्रुव हो गई है पक्की हो गई है । इस दिशा में उसे स्थिर रखने के लिए भी एक भाव उस के हृदय में काम करता है । वह भाव कल्माषग्रीव होने का है । आसनम् आसः, कर्मसुआसः प्रतिष्ठा स्थिति र्वा कर्मासः, कर्मास एव कल्माषः, ग्रीवायाम् प्राणवत् विद्य-मानं यस्य स कल्माषग्रीवः, अर्थात् साधक कर्म में प्रतिष्ठित होने को अपनी गर्दन में प्राणों के तुल्य समझता है । जैसे गरदन कट जाने पर मृत्यु हो जाती है वैसे कर्म में प्रतिष्ठित न रहने पर साधक की मृत्यु है । यूं तो कर्म सभी करते हैं बिना कर्म के कोई भी एक क्षणभर भी स्थित नहीं रह सकता, परन्तु कर्म में प्रतिष्ठित वस्तुतः वही है जो कर्म करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता । "नर में अर्थात् आत्मा में कर्म का लेप नहीं होता" यह भावना जिस की दृढ़ हो गई है वह साधक सचमुच, कर्म में रह-कर अशान्ति अनुभव करते हुए, अपनी मृत्यु समझता है। जैसे गर्दन कट जाने पर प्राण वियोग से मृत्यु होती है वैसे कर्म करते हुए अर्थात् सांसारिक विषयों का संबंध होते हुए अशान्त अवस्था हो जाने पर ध्रुवादिक् में विद्यमान साधक

की मृत्यु हो जाती है । इसलिए कर्म में प्रतिष्ठित होने से साधक अपनी परख करता रहता है और गर्दन में प्राणों के समान विद्यमान यही कर्म में प्रतिष्ठित होने का भाव उस की रक्षा करता है अर्थात् उसे मृत्यु से बचाता रहता है उसे स्थिर शान्ति की ध्रुवा दिशा में बनाए रखता है। इसी रक्षक भाव के द्वारा वह अपने आदर्श को अर्थात् विष्णु पद को प्राप्त होता है। ऐसे मनुष्य जो विष्णु पद को प्राप्त कर चुके हैं चारों ओर विविध दिशाओं में व्यापक रूप से जिन की गति है वे वीरुध् हैं। चारों ओर व्यापक रूप में समान भाव से गति रखने में किसी कर्म विशेष में आसक्त नहीं होता। अनासक्त भाव से गति करते हुए वा कर्म के साथ संबंध रखते हुए मनुष्य विष्णु पद को प्राप्त कर लेता है। अन्त में वह उन सब को नमस्कार कर के अपने आदर्श के विरोधी और अप्रिय भावों को उस वशी के आधीन करता है कि वशी हमारे पारस्परिक विरोधी और अप्रिय भावों को नष्ट करे और हमें उन्नति करने के लिए परस्पर में प्रीति का पात्र बनावे ॥

मन्त्र—

ओं ऊर्ध्वादिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो-स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

मन्त्रार्थ—

अथ (ऊर्ध्वादिक्) अन्तिम ध्येय को प्राप्त करने की अन्तिम दिशा है । (बृहस्पतिः अधिपतिः) अन्तिम आदर्श बृहस्पति है अर्थात् संपूर्ण वाक् पर अधिकार प्राप्त करना है । (श्वित्रो रक्षिता) गति और वृद्धि का भाव ही इस दिशा में रक्षक है । (वर्षम् इषवः) ज्ञान की वर्षा करने वाले साक्षात्कृतधर्मा आप्त मनुष्य प्रेरक हैं । (तेभ्यः) उन सब के लिए (नमः) नमस्कार हो, (अधिपतिभ्यः) संपूर्ण ज्ञानमयी वाक् पर अधिकार रखने वाले बृहस्पति आदर्श के लिए (नमः) नमस्कार हो, (रक्षितृभ्यः) गति और वृद्धि का जो रक्षक भाव है उस के लिए (नमः) नमस्कार हो, (इषुभ्यः) ज्ञान की वर्षा करने वाले आप्त मनुष्यों के लिए (नमः) नमस्कार हो, (एभ्यः) इस प्रकार इन सब के लिए नमस्कार (अस्तु) हो । (यः) जो (अस्मान्) हम को (द्वेष्टि) ज्ञानमय परमात्मा में विचरने के लिए अप्रीति करता है और (यम्) जिस को (वयम्) हम (द्विष्मः) अपने आदर्श को प्राप्त करने में विघ्न रूप अप्रीति का पात्र समझते हैं (तम्) उस भाव को हे प्रभो (वः) तुम्हारे (जम्भे) नियन्त्रण में (दध्मः) रखते हैं कि जिस से हम सब परस्पर प्रीति रखते हुए परमेश्वर को प्राप्त करने में परस्पर सहायक हो सकें ॥

व्याख्या—

साधक स्थिर और व्यापक शान्ति प्राप्त होने के पश्चात् अब इस योग्य हो जाता है कि अपनी प्रगति की दिशा उस से मिलने की ओर करे जो सब से बड़ा है सर्वोपरि है, बड़प्पन में इतना बड़ा है कि बड़े से बड़े भी उस से छोटे ही रह जाते हैं। यह दिशा साधक की अन्तिम दिशा है इस से आगे इस से बढ़कर या इस से ऊपर और कोई दिशा नहीं। इसीलिए इस दिशा का नाम ऊर्ध्वादिक् है। इस दिशा में चलनेवाले साधक का अन्तिम ध्येय बृहस्पति है। बृहस्पति का नाम वाचस्पति है। साधक बृहस्पति के साथ मेल कर के वाचस्पति बनना चाहता है। बृहस्पति में संपूर्ण वाक् अव्यक्त भाव में रहती है। जिसने बृहस्पति का दर्शन किया वा बृहस्पति से मेल किया उस का मानो संपूर्ण वाक् पर अधिकार हो गया। अन्तिम आदर्श-बृहस्पति-को प्राप्त कर लेने से कोई भी वाक् उस से छिपी नहीं रह सकती, वह वाचस्पति बन जाता है। इस अनन्त, महान्, विशाल बृहस्पति में साधक तन्मयता से उड़ान लेता २ आगे बढ़ता जाता है। आगे २ बढ़ता ही जाऊँ, उड़ान लेता ही जाऊँ, बृहस्पति का जितना-वाक् भंडार है उस सब को अपने अन्दर भरलूं ऐसा आगे बढ़ने का भाव ही उस का रक्षक है, उस को बृहस्पति के साथ तन्मय रखता है। यह भाव छूट जाय तो वह बृहस्पति के साथ न मिल सके,

बृहस्पति पद को प्राप्त न कर सके। इस प्रकार की गति और वृद्धि के भाव का नाम ही श्वित्र है। ऊर्ध्वादिक् में श्वित्र ही साधक का रक्षक है, उस को स्थिर रखता है। श्वयतीति श्वित् गतिः वृद्धिश्च तं त्रायते पालयतीति श्वित्रः गत्यात्मको वृध्यात्मको भावः। इस भाव को लेकर जिन्हों ने बृहस्पति पद प्राप्त कर लिया है, जो वाचस्पति हो गए हैं, जिन को सचमुच वाक् पर अधिकार प्राप्त हो गया है. जिन की वाक् के पीछे अर्थ चलता है, जो सत्य वाक् हैं, जिन्हें सत्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कारण कर्म में कभी असफलता नहीं मिलती, ऐसे महात्मा लोग ही दूसरों को उस परम पदवी का मार्ग दिखा सकते हैं दूसरों पर वाणी द्वारा ज्ञान की वर्षा कर सकते हैं। ऐसे महात्मा लोगों का नाम वर्ष है। ऊर्ध्वादिक् में साधक को इन्हीं वर्ष महानुभावों से प्रेरणा मिलती रहती है। इस दिशा में ये वर्ष ही साधक के प्रेरक हैं इषु हैं। साधक उन सब को नमस्कार करता है। अपने आदर्श को नमस्कार करता है। अपने रक्षक भाव को और प्रेरक महानुभावों को नमस्कार करता है। इस प्रकार इन सब को नमस्कार कर के साधक अपने विघ्नकारी और विरोधी अप्रिय भावों को उस वशी के आधीन करता है और प्रार्थना करता है कि हम सब परस्पर प्रीति पूर्वक उन्नति के मार्ग पर रहें। अब साधक मन के द्वारा सब से ऊपर की मंज़िलपर पहुंचने के बाद दिव्य ज्योति से अपनी

अत्यन्त समीपता अनुभव करता है। इसी उपासना को उपस्थान मन्त्रों के द्वारा प्रकट किया जाता है। साधक प्रकृति से ऊपर जीवात्मा और जीवात्मा से ऊपर परमात्मा से मिल चुका है। जिस वेदमयी दिव्य ज्योति (light of God) का उसने दर्शन किया है उसी को लक्ष्य कर के वह उपस्थान मंत्र द्वारा कहता है।

अथ उपस्थानम्

मन्त्र—

ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् ॥

मन्त्रार्थ—

(वयम्) हम (उत्) भौतिक संसार से ऊपर (तमसः) अन्धकारयुक्त अज्ञानमयी प्रकृति से (परि) परे (उत्तरम्) कुछ अधिक उत्कृष्ट (स्वः) जीवात्मा का (पश्यन्तः) दर्शन करते हुए (देवत्रा देवम्) देवों में देव को, प्रकाशकों में प्रकाशक को (सूर्यम्) सूर्य के समान (उत्तमम्) उत्कृष्टतम (ज्योतिः) परमात्मज्योति को (अगन्म) प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या—

यहां तमस् शब्द प्रकृति वाची है जैसे 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' इस मंत्र में पहिला तमः शब्द प्रकृति वाची है। स्वः सर्वनाम है जिस का अर्थ आत्मा है। आत्मा उत्तर है तो प्रकृति उत् है और देवों में देव परमात्मा उत्तम है। "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"। इस में उत्तम पुरुष से स्पष्ट परमात्मा लिया है। साधक भौतिक जगत् से उठ कर एक २ तन्मात्रा का अनुभव लेते हुए सूक्ष्म प्रकृति का अनुभव लेता है और फिर जीवात्मा का अनुभव लेकर उत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त होता है॥ Highest light or truth is the object of human mind.

मन्त्र—

ओं उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

मन्त्रार्थ—

(उत् उ) और फिर (सूर्यम्) सूर्य के समान (देवम्) प्रकाश स्वरूप (त्यम्) उस (जातवेदसम्) ज्ञानमय सर्वज्ञ के पास (केतवः) विविध ज्ञान (वहन्ति) पहुंचाते हैं कि (विश्वाय दृशे) विश्व का दर्शन हो सके।

व्याख्या—

विविध प्रकार के विज्ञानों से अन्तमें मनुष्य ऐसे किसी अद्भुत विज्ञान को प्राप्त कर लेता है जो संपूर्ण विज्ञानों का आधार है और जिस के द्वारा यह संपूर्ण विश्व स्पष्ट हो जाता है। The highest light or truth is obtained with unity in diversity.

मन्त्र—

ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

मंत्रार्थ—

दिव्य ज्योति के उदय होते ही उपासक कह उठता है कि (देवानाम्) विविध विज्ञानमय देवों की (चित्रम) यह विचित्र (अनीकम्) सेना (उदगात्) मेरे सामने उदय हुई है (मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) मित्र, वरुण और अग्नि की चक्षु है अर्थात् उन के रहस्य को खोलने का उत्तम साधन है (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष (आप्रा) इस दिव्य ज्योति से बिलकुल भरा हुआ है (जगतः तस्थुषश्च) चराचर का सब का (आत्मा) आत्मा (सूर्यः) यही सूर्य है, (सु, आहा) आहा!!! क्या सुंदर दृश्य है!!!

व्याख्या—

देखनेवाला अर्थात् ऋषि सब स्थान में उस एकत्व-विज्ञान को उपलब्ध करता है। द्रष्टा को विविध विज्ञान एक रूप दीखते हैं। उस एकत्व विज्ञान से सब विज्ञानों की व्याख्या हो जाती है। All is one and one is all.

मन्त्र—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥

मन्त्रार्थ-

उपासक दिव्य ज्योति की शुभ्र छटा को सन्मुख स्मरण कर के कह उठता है कि (देवहितम्) संपूर्ण देवों का अर्थात् विज्ञानों का हितकारी (तत् चक्षुः) सब विज्ञानों को दिखलाने का साधन वह चक्षु है (पुरस्तात्) सामने (शुक्रम्) शुभ्र ज्योति के साथ (उच्चरत्) ऊपर चल रहा है वा उचर रहा है। इस को हम (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष की साधारण आयुतक

अपनी ज्ञान चक्षुओं से (पश्येम) देखते रहें अर्थात् इस की ज्योति हमारे ज्ञान नेत्रों में बनी रहे (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष तक (जीवेम) इसी ज्योतिर्मय प्राण का सांस भरते रहें । (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष तक (शृणुयाम) इसी को सुनते रहें अर्थात् हमारा सुनने का विषय सौ वर्ष तक यही बना रहे । (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष तक (प्रब्रवाम) इसी को अपनी ज़बान से कहते रहें अर्थात् हमारी ज़बान से कुछ कहने का विषय भी सौ वर्ष तक यही रहे । (शतम्) सौ (शरदः) वर्ष तक (अदीनाः स्याम) हमारे उपभोग का विषय भी यही रहे अर्थात् यदि हमारी भूख मिटे तो वह भी इसी से मिटे । दुःख के समय में तो इस का ध्यान होता ही है, परन्तु सुख के साधन में भी यही हमें दीखता रहे । इस प्रकार सौ ही वर्ष तक इस की उपासना की अवधि समाप्त न हो किन्तु (शतात्) सौ से (भूयः च) भी अधिक (शरदः) वर्षों तक इस की उपासना हमारे जीवन की एक २ क्रिया से होती रहे ॥

The supreme light is the real life of our lives.

अथ गुरु मंत्रः

मन्त्र—

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो योनः प्रचोदयात् ॥

मन्त्रार्थ—

अब उपासक इसी ज्ञान ज्योति में अपनी स्थिति को, अपने ज्ञान को और अपने आनन्द को अनुभव करता हुआ उस ज्योति को संबोधन करके कहता है कि (ओ३म्) हे सर्व व्यापक। (भूर्भुवः स्वः) हे सच्चिदानन्द ! तुझ (सवितुः) उत्पादक का (देवस्य) प्रकाशक का (तत्) वह (वरेण्यम्) उत्तम (भर्गः) ज्ञान (धीमहि) हम धारण करें (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) तेरी तरफ़ आगे २ प्रेरणा करे ॥ Clear mind is the real source of knowledge.

अथ समर्पणम्.

अब उपासक, अपने व्यावहारिक कृत्य में भी प्रभु के उन्मुख ही बुद्धि बनी रहे ऐसी पक्की धारणा करने के बाद, अपने प्रभु को नमस्कार कर के सन्ध्या कर्म को समाप्त करता है।

मन्त्र—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

मन्त्रार्थ—

वह कहता है (शंभवाय) शान्त प्रभु को (नमः) नमस्कार हो, (च) और (मयोभवाय) सुख स्वरूप प्रभु को (नमः) नमस्कार हो, (च) और (शंकराय) शान्ति देनेवाले प्रभु को (नमः) नमस्कार हो, (च) और (मयस्कराय) सुखकारी प्रभु को (नमः) नमस्कार हो, (च) और (शिवाय) कल्याणकारी प्रभु को (नमः) नमस्कार हो, (च) और (शिवतराय) जिस से बढ़ कर अन्य कोई कल्याणकारी नहीं उस प्रभु को नमस्कार हो ॥ Success lives in God's grace.

अथ उपसंहार:

यह सन्ध्या त्रिकाण्ड है। इस के तीन काण्ड अर्थात् खण्ड हैं। पहिला कांड कर्म काण्ड है. दूसरा कांड ज्ञान कांड है और तीसरा कांड उपासना है। प्राणायाम तक इस का कर्म कांड समाप्त होता है, मनसा परिक्रमणम् तक ज्ञान कांड और तच्चक्षुः मंत्र तक उपासना कांड समाप्त होता है। गायत्री मंत्र से कटिबद्ध के समान शिखाबद्ध होकर सन्ध्या कर्म का आरंभ होता है और गायत्री मंत्र से ही, उच्चतम शिखर पर पहुंचने के लिए, बुद्धि को प्रेरित करने की अन्त में प्रार्थना होती है। बस ! सब के अन्त में प्रभु की कृपा के लिए प्रभु को नमस्कार करते हैं और सन्ध्या कर्म को समाप्त करते हैं। मनुष्य तो प्रयत्न करता ही है परन्तु सफलता प्रभु की कृपा से होती है अतः समाप्ति में शंकर को वा शिव को नमस्कार किया जाता है। इस प्रकार यह त्रिकांड सन्ध्या-कर्म ब्रह्म के साथ संबन्ध कराने से ब्रह्म यज्ञ भी कहलाता है ॥

इति शम् ॥

देवराज विद्यावाचस्पति

॥ ओ३म् ॥

गुरुकुल–सोनगढना ग्रन्थ प्रकाशन विभागना

मुख्य मुख्य नियमो.

(१) आर्य जगत्ने उपयोगी उत्कृष्ट साहित्य पुरूं पाडवानी दृष्टिथी आ प्रकाशन विभाग शरु थयो छे.

(२) सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तत्वज्ञान ने केळवणी विगेरे विषयोना पुस्तको प्रगट करवामां आवशे.

(३) आ प्रकाशन विभागमां श्री पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति, श्री पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, श्री चतुरभाईजी विगेरे सुयोग्य विद्वान् लेखक महानुभावोंद्वारा लिखित साथेज जनकल्याणार्थ सुयोग्य विद्वानोंथी अनुमोदित पुस्तको प्रसिद्ध करवामां आवशे.

(४) पुस्तको वी. पी. थी अने उधार मोकलाशे नहि, बीजी बधी प्रकारे मोकलाशे.

(५) आ विभागथी पुस्तको संस्था पोतानी सगवडे प्रसिद्ध करशे.

(६) सौए कायमी ग्राहक थवा सारु फक्त आठ आना आपवा पडशे. आवा कायमी ग्राहकोने पुस्तको प्रसिद्ध थये पोणी किंमतथी मळशे.

विशेष विगत माटे लखो:—

मन्त्री.

गुरुकुल–पुस्तक प्रकाशन विभाग.

सोनगढ (काठियावाड)